

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे)

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“साधु का किसी प्रकार भी शरीर-मन-वाणी के व्यापार में जुड़ान नहीं होता, वे उनकी हलन-चलन क्रियाओं के ज्ञाता तो हैं, पर कर्ता नहीं; इसलिए उनको समस्त व्यापार रहित कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं में साधु तत्पर होते हैं। बाह्य में वस्त्र-पात्र इत्यादि बहिरङ्ग परिग्रह तथा अन्दर में मिथ्यात्व-रागादि अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होने से साधु निर्ग्रन्थ होते हैं। मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों का नाश क्रिया है, इसलिए साधु निर्मोह होते हैं।^१

वीतराग शासन में तो अकेले विचरण करने वाले को जिनकल्पी और मुनियों के समुदाय में विचरण करने वाले को स्थविरकल्पी कहते हैं। दोनों ही प्रकार के मुनि आत्मभान तथा वीतरागी रमणता सहित नग्न ही होते हैं।^२

जिसकी अन्तरङ्ग से मिथ्यात्व और राग-द्वेष की ग्रन्थि भिद गई है, उसे निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं। दया-दानादि का विकल्प भी अपना स्वरूप नहीं है ह ऐसा साधु मानते हैं। उस विकल्प की साधु को पकड़ नहीं होती।^३

त्रिकाली कारणसमयसारस्वरूप भगवान आत्मा की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और उसमें रमणतारूप सच्चा आचरण मोक्षमार्ग है और उससे प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसारमार्ग है। पुण्य से धर्म माने, पर का कर्तापना माने तथा व्यवहार से ह शुभराग से लाभ माने वह मिथ्यादर्शन है। ऐसा मिथ्यात्व मुनि के नहीं होता तथा उनको मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का भी अभाव होता है।^४”

इस गाथा और उसकी टीका में साधु परमेष्ठी को परमतपस्वी महापुरुष कहा गया है; क्योंकि आचार्य और उपाध्याय तो कदाचित् संघ की व्यवस्था, प्रशासन और पठन-पाठन, अध्यापन में व्यस्त रहते हैं; किन्तु सामान्य साधु तो निरंतर आत्मसाधना में ही मग्न रहते हैं; बाह्य व्यापार से सर्वथा मुक्त ही रहते हैं। निरन्तर

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२०

२. वही, पृष्ठ ६२०

३. वही, पृष्ठ ६२१-६२२

४. वही, पृष्ठ ६२२

चार प्रकार की आराधना में ही तत्पर रहनेवाले सर्व साधु आचार्य-उपाध्याय की अपेक्षा अधिक निर्मोही और पूर्णतः निर्ग्रन्थ होते हैं ॥७५॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात् ।

मंक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ॥१०६॥

(दोहा)

भव सुख से जो विमुख हैं सर्व संग से मुक्त ।

उनका मन अभिवंद्य है जो निज में अनुरक्त ॥१०६॥

भववाले अर्थात् संसारी जीवों के भवसुख से जो विमुख हैं और सर्वपरिग्रह के संबंध से मुक्त हैं हूँ ऐसे सर्व साधुओं का मन हमारे द्वारा वंदनीय है । हे साधुओ ! उस मन को शीघ्र ही निजात्मा में मग्न करो ।

इस छन्द में पंचेन्द्रिय संबंधी सांसारिक सुखों के त्यागी, अंतरंग और बहिरंग हूँ सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित सर्व साधुओं के मन को वंदनीय बताया गया है और सभी साधुओं से स्वयं के पवित्र मन को स्वयं के आत्मा में लगाने का अनुरोध किया गया है ।

तात्पर्य यह है कि स्वयं के आत्मा में लगा मन ही पवित्र होता है ॥१०६॥

नियमसार गाथा ७६

गाथा ५६ से आरंभ होनेवाले इस व्यवहारचारित्राधिकार में अबतक विगत २० गाथाओं में क्रमशः अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यासमिति आदि पाँच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति हूँ इसप्रकार कुल मिलाकर मुनिराजों के होनेवाले १३ प्रकार के चारित्र का निरूपण किया गया है। तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझाया गया है ।

अब इस ७६वीं गाथा में व्यवहारचारित्राधिकार का समापन करते हुए कहते हैं कि अब आगे के अधिकारों में निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे ।

गाथा मूलतः इसप्रकार है हूँ

एरिसयभावणाए व्यवहारणयस्स होदि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उट्ठं पवक्खामि ॥७६॥

(हरिगीत)

इसतरह की भावना व्यवहार से चारित्र है ।

अब कहूँगा मैं अरे निश्चयनयाश्रित चरण को ॥७६॥

इसप्रकार की भावना में व्यवहारनय संबंधी चारित्र है और अब आगे निश्चयनय संबंधी चारित्र की चर्चा करूँगा ।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“यह व्यवहारचारित्राधिकार के व्याख्यान का उपसंहार और निश्चय चारित्राधिकार आरंभ करने की सूचना का कथन है ।

व्यवहारनय के अभिप्राय से पूर्वोक्त पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और निश्चय-व्यवहाररूप तीन गुप्तियाँ तथा पंचपरमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त अतिप्रशस्त शुभ भावना परमचारित्र है ।

अब आगे कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में परम पंचमभाव में लीन, पंचमगति के हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परमचारित्र देखने योग्य है ।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“महाव्रत, समिति आदि में जो स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प वीतरागता प्रगटी है, वह निश्चय है और जो शुभविकल्प उठता है, वह व्यवहार है, बंध का कारण है, और मोक्ष का बाधक है ।^१

आत्मा अखण्ड चैतन्य ज्ञायक है, उसके भान होने के पश्चात् जो शुभवृत्ति रही, उसे व्यवहार कहते हैं । मिथ्यादृष्टि को निश्चय-व्यवहार में से एक भी नहीं होता ।^२

जिसमें क्षायिकभाव का भी अवलम्बन नहीं, जिसमें औदयिक आदि चार भावों का भी सहारा नहीं; ऐसे त्रिकाल निरपेक्ष परम-पारिणामिकभाव का अवलम्बन लेकर उसमें लीन होना, निश्चय अर्थात् सच्चा चारित्र है । यह निश्चयचारित्र पंचमगति अर्थात् मोक्ष का कारण है ।

वास्तव में तो निश्चयचारित्र भी मोक्षगति का निमित्तकारण है । मोक्ष का सच्चा उपादानकारण तो त्रिकाली परमपारिणामिकभाव ही है ।^३”

यह गाथा व्यवहारचारित्र अधिकार के समापन एवं परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार के आरंभ के संधिकाल की गाथा है ।

इसमें मात्र यह सूचना दी गई है कि पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२६

२. वही, पृष्ठ ६२७

३. वही, पृष्ठ ६२७

पंच परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला व्यवहार-चारित्राधिकार समाप्त हो रहा है और आगे के अधिकारों में जो भी निरूपण होगा, वह सब निश्चयचारित्र की मुख्यता से होगा ॥७६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथा मार्गप्रकाश नामक शास्त्र में भी कहा गया है' हूँ ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह

(वंशस्थ)

कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम् ।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ॥३६॥^१

(हरिगीत)

कोठार के भीतर पड़े ज्यों बीज उग सकते नहीं ।
बस उसतरह चारित्र बिन दृग-ज्ञान फल सकते नहीं ॥
असुर मानव देव भी थुति करें जिस चारित्र की ।
मैं करूँ वंदन नित्य बारंबार उस चारित्र को ॥३६॥

जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में पड़े हुए बीज के समान है; देव, असुर और मानवों से स्तवन किये गये उस चारित्र को मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बोधिबीज हैं, उस बीज को उगावे तो चारित्ररूपी वृक्ष होवे और तब उसका वास्तविक फल प्राप्त हो । आत्मारूपी कोठार में सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप बीज तो है; परन्तु चारित्ररूपी वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ हूँ फल नहीं आया ।^२

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए मार्ग के अलावा कोई योग (ध्यान-प्राणायाम) करे तो वह सब थोथा है, मिथ्यादृष्टि की कल्पनामात्र है, उससे आत्मकल्याण होना संभव नहीं है ।^३

इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को तो न मानें और योग के बखड़े में पड़ जायेगा तो ज्ञान का परिणामन अनुक्रम से हीन होता जायेगा और एकेन्द्रिय बन जायेगा; चतुर्गति में भ्रमण करके हैरान हो जायेगा ।^४”

यद्यपि यह बात तो जिनवाणी में अनेक स्थानों पर प्राप्त हो जाती है कि सम्यग्दर्शन-

१. मार्गप्रकाश : श्लोक

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२८

३. वही, पृष्ठ ६२९

४. वही, पृष्ठ ६२९

ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता; तथापि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार कोठार में रखा बीज उगता नहीं, बढ़ता नहीं, फलता भी नहीं है । उगने, बढ़ने और फलने के लिए उसे उपजाऊ मिट्टीवाले खेत में बोना आवश्यक है, उसे आवश्यक खाद-पानी दिया जाना भी आवश्यक है ।

उसीप्रकार चारित्र को धारण किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में रखे हुए बीज के समान निष्फल हैं, मुक्तिरूपी फल को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है । इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से मण्डित जीवों को जल्दी से जल्दी सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए ॥३६॥

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः ।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ॥१०७॥

(अडिल्ल)

आत्मरमणतारूप चरण ही शील है ।
निश्चय का यह कथन शील शिवमूल है ॥
शुभाचरण मय चरण परम्परा हेतु है ।
सूरिवचन यह सदा धर्म का मूल है ॥१०७॥

आचार्यों ने शील को मुक्तिसुन्दरी के अनंगसुख का मूल कहा है और व्यवहारचारित्र को भी उसका परम्परा कारण कहा है ।

अनंग का अर्थ कामदेव भी होता है और अंगरहित अर्थात् अशरीरी भी होता है । यद्यपि लोक में सुन्दरियों का सुख काममूलक होता है; तथापि यहाँ यह कहा जा रहा है कि शील अर्थात् निश्चयचारित्रधारियों को मुक्तिसुन्दरी का अनंग (अशरीरी) सुख प्राप्त होता है ।

यह एक विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है; क्योंकि इसमें विरोध का आभास तो हो रहा है, पर विरोध है नहीं ।

निश्चयचारित्र अर्थात् शीलधारियों को किसी कामिनी के काम-वासना संबंधी सुख प्राप्त होने में विरोध है, विरोधाभास है; परन्तु उक्त विरोध का परिहार यह है कि मुक्तिसुन्दरी का अनंग सुख अर्थात् मुक्ति में प्राप्त होने वाला अशरीरी अतीन्द्रिय सुख शीलधारियों को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित निश्चय सम्यक्-चारित्र धारकों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अनंत अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है ॥१०७॥

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि इसप्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में व्यवहार चारित्राधिकार नामक चौथा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार

(गाथा ७७ से गाथा ९४ तक)

नियमसार अनुशीलन भाग-१ में अबतक जीवाधिकार, अजीवाधिकार, शुद्धभावाधिकार और व्यवहारचारित्राधिकार में वर्णित विषयवस्तु की चर्चा हुई और अब इस नियमसार अनुशीलन भाग-२ में परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार में समागत विषयवस्तु की चर्चा आरंभ करते हैं। इस अधिकार की टीका आरंभ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण के रूप में आचार्य माधवसेन को नमस्कार करते हैं; जो इसप्रकार है ह

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै।

विनेयपंकेजविकाशभानवे

विराजते माधवसेनसूरये ॥१०८॥

(हरिगीत)

कामगज के कुंभथल का किया मर्दन जिन्होंने।

विकसित करें जो शिष्यगण के हृदयपंकज नित्य ही॥

परम संयम और सम्यक्बोध की हैं मूर्ति जो।

हो नमन बारम्बार ऐसे सूरि माधवसेन को॥१०८॥

संयम और ज्ञान की मूर्ति, कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले तथा शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने में सूर्य के समान सुशोभित हे माधवसेन सूरि ! आपको नमस्कार हो।

जिन माधवसेन सूरि को नियमसार परमागम के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-

धारिदेव स्मरण कर रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं, संयम और ज्ञान की मूर्ति बता रहे हैं, कामगज के कुंभस्थल को भेदनेवाले कह रहे हैं और शिष्यरूपी कमलों को खिलानेवाले बता रहे हैं; यद्यपि वे माधवसेन आचार्य कोई साधारण व्यक्ति तो हो नहीं सकते, कोई प्रभावशाली आचार्य ही होने चाहिए; तथापि उनके संबंध में न तो विशेष जानकारी उपलब्ध है और न उनकी कोई कृति ही प्राप्त होती है।

उनके बारे में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में मात्र इतना ही लिखा है कि वे माथुर संघ की गुर्वावली के अनुसार नेमिषेण के शिष्य और श्रावकाचार के कर्ता अमितगति के गुरु थे और उनका समय विक्रम संवत् १०२५ से १०७५ के बीच का था।

डॉ. नेमीचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य के भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा नामक ग्रन्थ में भी उनके संदर्भ में कुछ नहीं लिखा गया। जो भी हो, पर वे ऐसे प्रभावक आचार्य अवश्य रहे होंगे, जिन्हें पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अध्यात्मरसिया मुनिराज नियमसार की टीका जैसे ग्रंथ में स्मरण करें और श्रद्धापूर्वक उन्हें नमस्कार करें ॥१०८॥

नियमसार गाथा ७७ से ८१

उक्त गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए पद्मप्रभमलधारिदेव विगत और आगत ह्व दोनों अधिकारों की संधि भी बताते हैं। कहते हैं कि विगत अधिकार में निरूपित सम्पूर्ण व्यवहारचारित्र और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष जो शुद्धनिश्चयपरमचारित्र है, उसका प्रतिपादन करनेवाले परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विगत व्यवहारचारित्राधिकार में मुख्यरूप से पुण्यबंध के कारणरूप व्यवहारचारित्र का स्वरूप बताया गया है।

अब इस अधिकार में सर्वप्रकार के पुण्य-पाप के बंध से मुक्त होने का कारणभूत निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे।

सबसे पहले पंचरत्न का स्वरूप कहते हैं। इसप्रकार अब यहाँ पाँच रत्नों का अवतरण होता है।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं ह

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।

कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥७७॥

णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।

कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥७८॥

णाहं बालो वुद्धो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
 कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥
 णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
 कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥
 णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
 कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८१॥

(हरिगीत)

मैं नहीं नारक देव मानव और तिर्यग मैं नहीं ।
 कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं ॥७९॥
 मार्गणास्थान जीवस्थान गुणथानक नहीं ।
 कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं ॥८०॥
 बालक तरुण बूढ़ा नहीं इन सभी का कारण नहीं ।
 कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं ॥७९॥
 मैं मोह राग द्वेष न इन सभी का कारण नहीं ।
 कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं ॥८०॥
 मैं मान माया लोभ एवं क्रोध भी मैं हूँ नहीं ।
 कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं ॥८१॥

नरकपर्याय, तिर्यचपर्याय, मनुष्यपर्याय और देवपर्यायरूप मैं नहीं हूँ। इन पर्यायों का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मार्गणास्थान, गुणस्थान और जीवस्थान भी मैं नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं बालक, वृद्ध या जवान भी नहीं हूँ और इन तीनों का कारण भी नहीं हूँ। उन तीनों अवस्थाओं का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं मोह, राग और द्वेष नहीं हूँ, इनका कारण भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं क्रोध, मान, माया और लोभ भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही बताया गया है कि नर-नारकादि पर्यायों; मार्गणा, गुणस्थान और जीवस्थान आदि भावों; बालक, तरुण, वृद्ध आदि अवस्थाओं, मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों और क्रोधादि कषायोंरूप आत्मा नहीं है। इन

सबका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी आत्मा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि इनसे त्रिकाली ध्रुव आत्मा का कोई संबंध नहीं है और वह त्रिकाली ध्रुव आत्मा मैं ही हूँ। मेरा अपनापन भी एकमात्र इसी में है।

उक्त गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्तिकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“अब यहाँ शुद्धात्मा को सकल कर्तृत्व का अभाव दिखाते हैं।

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह का अभाव होने के कारण मैं नारकपर्याय रूप नहीं हूँ। संसारी जीवों के बहुत आरंभ और परिग्रह व्यवहार से होता है; इसलिए उसे नरकायु के हेतुभूत सभी प्रकार के मोह-राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे मुझे नहीं हैं; क्योंकि शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धजीवास्तिकाय में वे नहीं होते।

तिर्यचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभकर्म का अभाव होने से मैं तिर्यचपर्याय के कर्तृत्व से रहित हूँ।

मनुष्यनामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्मों का अभाव होने से मुझे शुद्धनिश्चयनय से मनुष्यपर्याय नहीं है।

‘देव’ इस नामवाली देवपर्याय के योग्य सुरससुगंधस्वभाववाले पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।

चौदह-चौदह भेदवाले मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान शुद्धनिश्चयनय से परमभाव स्वभाववाले आत्मा को (मुझे) नहीं है।

मनुष्य और तिर्यचपर्याय की काया के वयकृत विकार से उत्पन्न होनेवाले बाल, युवा, प्रौढ और वृद्ध आदि अवस्थारूप उनके स्थूल, कृश आदि अनेक प्रकार के भेद शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मेरे नहीं हैं।

सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन हूँ ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से मुझे सभीप्रकार के मोह-राग-द्वेष नहीं हैं।

सहजनिश्चयनय से सदा निरावरणस्वरूप, शुद्धज्ञानरूप, सहज-चित्शक्तिमय, सहजदर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति और स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यातचारित्रवाले मुझे समस्त संसार-क्लेश के हेतु क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हैं।

अब इन विविध विकल्पों से आकुलित विभावपर्यायों का निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और पुद्गल कर्मरूप कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

मैं नारकपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता (चेतता) हूँ। मैं तिर्यचपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं मनुष्यपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं देवपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं चौदहमार्गणा के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहज-चैतन्य विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं शरीरसंबंधी बालकादि अवस्था भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं रागादि भेदरूप भावकर्म के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहज-चैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं तो भावकर्मात्मक चार कषायों के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

इसप्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथनविस्तार के द्वारा सम्पूर्ण विभाव पर्यायों के संन्यास का विधान कहा।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं

“आत्मा के भानसहित एकाग्रता करना, वह प्रतिक्रमण है। कोई तिर्यच सम्यग्दृष्टि हो, तथापि वह समझता है कि मैं पशु की अवस्थारूप नहीं हूँ; वह शरीर को जड़ की पर्याय समझता है, अपना स्वरूप नहीं मानता। इसीप्रकार धर्मीजीव मनुष्य हो या देव हो, तो भी वह समझता है कि मैं तीन काल के भवरहित हूँ हूँ मैं तो ज्ञाता चैतन्यस्वरूप हूँ।”

सम्यग्दृष्टि जीव समझता है कि मैं तो अखण्ड ज्ञायकस्वभावी हूँ। गति आदि

मार्गणास्थान के भेद, एक से लगाकर चौदह गुणस्थान तक के भेद, पंचेन्द्रिय आदि जीवस्थान के भेद में नहीं हूँ; उन भेदों का कर्ता, प्रेरक या अनुमोदक नहीं हूँ। वे भेद तो व्यवहारनय के विषय हैं, निश्चयदृष्टि उन भेदों को नहीं स्वीकारती।^१

आठ वर्ष के बालक-बालिका भी सम्यक्त्वाधिकारी हैं। वे मानते हैं कि मैं बालक नहीं हूँ। शरीर जड़ है। उसकी अवस्था जड़ के कारण होती है, मेरे कारण नहीं होती। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ। धर्मीजीव मानता है कि शरीर की किसी भी अवस्था का मैं कर्ता नहीं, करानेवाला नहीं, अनुमोदक नहीं हूँ। युवावस्था हो तो धर्म हो और वृद्धावस्था में धर्म न हो, यह बात उसे स्वीकार नहीं, वह मानता है कि मेरी धर्मदशा तो मेरे चैतन्यस्वभाव के आधार से है।

यहाँ कोई शंका करे कि शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जबतक ‘इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ें, वृद्धावस्था न आवे, रोग-व्याधि न घरे; तब तक धर्म कर लेना चाहिए’ हूँ इसका क्या अर्थ है ?

समाधान हूँ भाई ! उपदेश के वचन ऐसे ही होते हैं। उनमें छुपा हुआ रहस्य कुछ भिन्न ही होता है। यदि वह रहस्य न समझे तो घोटाला हो जाता है। वे सब निमित्त के कथन हैं, जीव का पुरुषार्थ जागृत कराने के लिए उपदेश के वचन हैं। धर्म शरीर से नहीं होता, किन्तु शुद्धचैतन्य-स्वभाव के आश्रय से होता है।^२

पंचमहाव्रतादि का अथवा द्वादशव्रत का राग हो या अशुभभाव का राग हो; वह सब एक समय की पर्याय में है, शुद्धस्वभाव में नहीं। सम्यक्त्वीजीव राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, युद्ध के समय में द्वेष के परिणाम होने पर भी उस द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता; पर में सावधानी का भाव मोह है, उसको धर्मीजीव अपना स्वरूप नहीं मानता।^३

क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम पर्याय में होते हैं, स्वभाव में नहीं; अतः धर्मीजीव उन परिणामों का कर्ता नहीं है, करानेवाला नहीं है, अनुमोदना करनेवाला भी नहीं है।^४

पर्याय में होनेवाले राग-द्वेषादि परिणाम को गौण करके स्वभाव-दृष्टि कराने के लिए शुद्ध आत्मा में उनका अभाव कहा है।^५

विकार के परिणाम एक समय की पर्याय में होते हैं, तथापि भेद का आश्रय

छुड़ाकर तथा राग को गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है और शुद्धस्वभाव को भूतार्थ कहा है।^१

यहाँ टीका में जैसे कर्ता के विषय में वर्णन किया है, वैसे ही आत्मा भेदों का करानेवाला तथा यह भेद पड़े तो ठीक, इसप्रकार अनुमोदन करानेवाला भी नहीं है। किसी भी भेद को करना, कराना या अनुमोदन करना वस्तुस्वभाव में है ही नहीं, इसलिए धर्मीजीव स्वभाव की एकाग्रता को भाता है।

इसप्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथन-विस्तार द्वारा सकल विभावपर्यायों के त्याग का विधान कहा है। यह प्रतिक्रमण की बात है, इसलिए विभाव के त्याग की बात की है। वास्तव में तो शुद्धस्वभाव में लीनता करने पर विभाव उत्पन्न ही नहीं होता।^२

गाथाओं, उनकी टीका और स्वामीजी के स्पष्टीकरण का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय और दृष्टि के विषयभूत ध्यान के ध्येयरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में, जो कि स्वयं मैं ही हूँ, न तो नरकादि पर्यायें हैं, न मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ही हैं, न वह बालक, जवान और वृद्ध ही होता है, न उसमें मोह-राग-द्वेष हैं और न क्रोधादि कषायें हैं।

उक्त सभी प्रकार की अवस्थाओं और भावों का यह भगवान आत्मा स्वामी और कर्ता-भोक्ता भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अर्थात् मैं स्वयं न तो इन्हें करता हूँ, न कराता हूँ और न करने-कराने का अनुमोदक ही हूँ। इसप्रकार मैं इनसे कृत, कारित और अनुमोदना से भी अत्यन्त दूर हूँ।

प्रतिक्रमण में इसप्रकार का चिन्तन-मनन किया जाता है। इसप्रकार का चिन्तन करते हुए यह आत्मा इनसे संन्यास लेता है ॥७७-८१॥

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक कलश लिखते हैं, जिसमें उक्त प्रतिक्रमण और संन्यास का फल बताया गया है। वह मूलतः इसप्रकार है

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः

स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।

मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं

प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ॥१०९॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६४३

२. वही, पृष्ठ ६४७-६४८

(हरिगीत)

सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण की भावना से मुक्त हों।

निज द्रव्य गुण पर्याय में जो हो गये अनुरक्त हों ॥

छोड़कर सब विभावों को नित्य निज में ही रमें।

अति शीघ्र ही वे भव्य मुक्तिरमा की प्राप्ति करें ॥१०९॥

इसप्रकार उक्त पंचरत्नों के माध्यम में जिसने सभीप्रकार के विषयों के ग्रहण की चिन्ता को छोड़ा है और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप में चित्त को एकाग्र किया है; वह भव्यजीव निजभाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को छोड़कर अतिशीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस कलश में निष्कर्ष के रूप में मात्र इतना ही कहा है कि जो आत्मार्थी उक्त पाँच गाथाओं और उनकी टीका में समझाये गये भाव को गहराई से ग्रहण कर, पंचेन्द्रिय विषयों के ग्रहण संबंधी विकल्पों से विरक्त हो, उनकी चिन्ता को छोड़कर अपने आत्मा में उपयोग को स्थिर करता है, उसे ही निजरूप जानता है, मानता है और उसी में जमता-रमता है; वह आत्मार्थी अल्पकाल में ही समस्त विभावभावों से मुक्त हो मुक्ति सुन्दरी का वरण करता है ॥१०९॥

नियमसार गाथा ८२

पंचरत्न संबंधी विगत गाथाओं की चर्चा के उपरान्त अब ८२वीं गाथा में परमार्थप्रतिक्रमणादि के बारे में चर्चा करने का संकल्प व्यक्त करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है

एरिसभेदबभासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।

तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

(हरिगीत)

इस भेद के अभ्यास से मध्यस्थ हो चारित्र हो।

चारित्र दृढता के लिए प्रतिक्रमण की चर्चा करूँ ॥८२॥

इसप्रकार का भेदाभ्यास (परपदार्थों से भिन्नता का अभ्यास) होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उससे चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ करने के लिए अब मैं प्रतिक्रमणादि की चर्चा करूँगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह “भेदविज्ञान से क्रमशः निश्चयचारित्र होता है ह यहाँ ऐसा कहा है। पूर्वोक्त पंचरत्नों से शोभित अर्थपरिज्ञान से होनेवाले पंचमगति की प्राप्ति का हेतुभूत जीव और

कर्मपुद्गलों का भेदाभ्यास होने पर उसी में स्थित रहनेवाले मुमुक्षु मध्यस्थ हो जाते हैं। इसी मध्यस्थता के कारण परम संयमियों के वास्तविक चारित्र होता है।

उक्त चारित्र में अविचलरूप से स्थिति रहे, इसलिए यहाँ प्रतिक्रमणादि की निश्चयक्रिया कही जा रही है।

भूतकाल के दोषों का परिहार करने के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है; वह प्रतिक्रमण है। आदि शब्द में प्रत्याख्यानादि का समावेश भी संभव होता है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“आत्मा ज्ञाता शुद्धजीव हैं, तथा परपदार्थ अपने से पर हैं हू ऐसा भेदाभ्यास करके अपने शुद्धस्वभाव में एकाग्र होना मोक्षगति का हेतु है। इसतरह जो मोक्षाभिलाषी जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान में लीन रहते हैं, वे भेदाभ्यास से मध्यस्थ रहते हैं। दृष्टि तो अखण्ड स्वभाव पर ही है, परन्तु स्वभाव में जितनी स्थिरता होती जाती है, उतना राग और भेद का आश्रय छूटता जाता है। मुझे राग टालना है और मोक्ष करना है हू ऐसा विकल्प भी नहीं होता।”

इसप्रकार संसारपर्याय और मोक्षपर्याय के प्रति मध्यस्थ होने के कारण परमसंयमी मुनियों की वास्तविक वीतरागीदशा होती है। सहज स्थिरता बढ़ने पर भेद का भी लक्ष छूट जाता है।”

अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से वीतरागीदशा प्रगट होने पर भूतकाल के दोषों से हटना प्रतिक्रमण कहा जाता है। वर्तमानकाल में शुभाशुभभाव में नहीं जुड़कर स्वभाव में ठहरना आलोचना और संवर है।

यहाँ आदि शब्द से प्रत्याख्यानादि समझना चाहिए। अपने शुद्धस्वभाव में ठहरने पर भविष्य का राग उत्पन्न ही न होने देना प्रत्याख्यान है। इसप्रकार एक वीतरागीदशा ही मोक्ष का कारण है, और जितने विकल्प हैं, वे सब बंध के कारण हैं।” (क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६५२

२. वही, पृष्ठ ६५२

३. वही, पृष्ठ ६५२-६५३

डॉ. भारिल्ल की नवीनतम कृति

नियमसार अनुशीलन भाग-2

छपकर तैयार है।

मूल्य 20 रुपये मात्र